सापेक्षता लक्ष्य में रहती, तो कदापि वैर, विरोध, ईर्षा, अनादरता, दर्शनभिन्नता, विवेकशून्यता, अल्पज्ञता, निर्नाथिता, छिन्नभिन्नता और खण्डन मण्डन आदि दूषण उत्पन्नही नहीं होते; जिनका इस समय हमलोग अनुभव कर रहे हैं, उस अनुभव होने का यह समयही नहीं आता। लेकिन फिर भी जो आज कितनेही भारतभूमि के भूषण नररत्न, समस्त धर्मों की एकता की रक्षा और आर्यावर्तभूमि के गौरव को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हो रहे हैं, यह बड़े आनन्द का विषय है।

पहिले भी जिस लेखक ने कलकत्ते में इसी परिषद के प्रथम अधिवेशन में एक 'जैनतत्त्वदिग्दर्शन' नाम का निबन्ध श्रोताओं को श्रवण कराया था वही इस समय भी आर्हत-धर्म के संबन्ध में पक्षपात को जलाञ्जलि देकर पूर्वोक्त महाशयों के प्रयत्न को अमूल्य समझ तत्त्वज्ञानरूप निबन्ध पढ़ने को उपस्थित हुआ है। जैनसिद्धान्तमहासागर से मेरे हृदयरूपी आलवाल (क्यारी) में अप्रमत्तभाव रूपी सारणी (नाली) से अब तक बिन्दुमात्र भी नहीं आया है; इसलिए मैं बिन्दुमात्र भी कह सकूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना भी ठीक नहीं है। अतएव मैं अपने बिन्दु से भी न्यून बोध के अनुसार आर्हतदर्शनरूपी महामहल की नीवें, दीवार, और धरन रूपी देव, गुरु और धर्म की यथाशक्ति विवेचना करूँगा। क्योंकि जिस इमारत की नीवँ, दीवार, और धरनही मजबूत नहीं है वह घर अकस्मात् गिर जाता है; और उसमें रहनेवालों के मन में भी उसका विश्वास नहीं रहता। इसरीति से दर्शन रूपी महल की मजबूती-देव, गुरु और धर्मही पर

आधार रखती है; इसलिए उन्हींकी व्याख्या करने की विशेष आवश्यकता है। क्योंकि देव, गुरु और धर्म युक्तियुक्त जिसमें वर्तमान होते हैं और उसी रीति से उसमें यदि गुण तथा आचार भी देखे जायँ तो वह ग्राह्यही होता है अन्यथा नहीं। तो अब उद्देश्य क्रमानुसार पहिले देवका ही स्वरूप कहना उचित है; क्योंकि ज्ञेय पदार्थका स्वरूप विना मालूम हुए श्रोताओं के लाभ का संभव ही नहीं है; अतएव आर्हत दर्शनरूपी सुन्दर महल की, नीवँरूपी देव का ही पहिले स्वरूप कहूँगा; फिर उसके बाद गुरु का, पश्चात् देव गुरुओं से कहे हुए धर्म का लक्षण, स्वरूप और उसकी आराधना करने का प्रकार निरूपण करूँगा।

लौकिक और लोकोत्तर रूप से देव दो प्रकार के होते हैं। उनमें भुवनपति, व्यन्तर, वाणव्यन्तर, भूत, पिशाच, ज्योतिष्क और वैमानिक आदि अनेक प्रकार के लौकिकदेव होते हैं; जो सर्वज्ञ न होने के कारण रागद्वेषादि से दूषित रहते हैं। यदि उनकी ही आराधना की जाय तो मोक्षरूपी फल कदापि नहीं प्राप्त हो सकता।

अर्हन् * शब्द से जैनशास्त्र में लोकोत्तर देवही

---

*श्रीभद्रबाहुस्वामिरचित 'आवश्यकनिर्युक्ति' में लिखा है कि—

रागद्दोसकसाए इन्दिआणि य पंचवि।
परीसहे ओवसग्गे नामयंता नमोऽरिहा ॥ ३२ ॥
इन्दियविसयकसाए परीसहे वेअणाउवस्सग्गे।
एए अरिणो हन्ता अरिहन्ता तेण वुच्चंति ॥ ३३ ॥

असिद्ध है। उसका स्वरूप मूलसिद्धान्तानुसार जिसतरह आचार्यवर्य श्रीहरिभद्रसूरि ने 'लोकतत्त्वनिर्णय' और वीर-शासन के रहस्यभूत अष्टक में निष्पक्षपात रीति से बतलाया है; तथा कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य ने भी 'योगशास्त्र' और 'महादेवस्तोत्र' में कहा है, उसीके अनुसार यहाँ परभी दिखलाया जाता है—

क्लेश× उत्पन्न करनेवाला किसी प्रकार का राग, और शान्तिरूप काष्ठ को भस्म करने के लिये द्वेष रूप दावानल, और सम्यग् ज्ञान का नाश करनेवाला तथा अशुभ प्रवृत्ति को वढ़ाने वाला मोह भी जिनके न हो, और जिनकी महिमा तीनों लोक में प्रख्यात हो, उन्हींको महादेव मानते हैं। अथवा-जो सर्वज्ञ और शाश्वत सुख का मालिक हो, और आठ प्रकार के क्लिष्टकर्मों से रहित; तथा हमेशा निष्कल अर्थात् निर्मल हो (याने जो जीवन्मुक्त हो) और जिसकी सब देव पूजा और योगी ध्यान करते हों; एवं जो सब नीतियों का बनानेवाला हो, वही महादेव है।

× यस्य संक्लेशजननो रागो नास्त्येव सर्वथा।
न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु शमेन्धनदवानलः॥ १॥
न च मोहोऽपि सज्ज्ञानच्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत्।
त्रिलोकख्यातमहिमा महादेवः स उच्यते॥ २॥
यो वीतरागः सर्वज्ञो यः शाश्वतसुखेश्वरः।
क्लिष्टकर्मकलाऽतीतः सर्वथा निष्कलस्तथा॥ ३॥
यः पूज्यः सर्वदेवानां यो ध्येयः सर्वदेहिनाम्।
यः स्रष्टा सर्वनीतिनां महादेवः स उच्यते॥ ४॥

पूर्वोक्त बातों से केवल महादेव का स्वरूपही ज्ञात होता है; लेकिन किस व्यक्ति को महादेव कहना चाहिए, यह नहीं बतलाया गया है। परन्तु गुणगण से भूषित और दोषों से रहित ही को महादेव माना है। इसलिए पूर्वोक्त कथनों से जैनदर्शन में अर्हन् देव ही को महादेव मानते हैं।

अर्हन् देव कदापि अवतार नहीं धारण करते और दुनिया के फन्द में हाथ भी नहीं डालते; केवल केवलज्ञान से भाषावर्गणा के पुद्गलों के क्षय करने के लिये गम्भीरता पूर्वक देशना (उपदेश) देते हैं। जगज्जन्तु को मोक्षमार्ग के दर्शक होने से सर्वनीतिरचयिता वह माने जाते हैं। यद्यपि नीति तथा धर्म अनादिकाल के हैं तथापि समय समय पर उनकी शिथिलता होने पर अपने केवलज्ञान के समय लोगों को उपदेश द्वारा नीति तथा धर्म का उपदेश देते हैं इसलिए ही वे सर्वनीतिरचयिता उपचार से कहे जाते हैं।

जैनदर्शन में अर्हन् देव को जगत् का कर्ता नहीं माना है किन्तु जगत् अनादिकाल से ऐसा ही बराबर चला आता है; क्योंकि अर्हन् देव को जगत् का कर्ता मानने में जैनदर्शनकारों ने अनेक दूषण दिखाए हैं—पहिले तो ईश्वर में पूर्वोक्त प्रकार से राग-द्वेष और मोह ही जब नहीं है तब उसमें इच्छा हो ही नहीं सकती; क्योंकि इच्छा रागाधीन है और विना इच्छा के रचना नहीं हो सकती। दूसरी यह बात है कि ईश्वर में जन्यजनकभाव संबन्ध भी नहीं घट सकता; क्योंकि जनक के तुल्य ही जन्य होना चाहिए और

जगत् तो ईश्वर से विलक्षण है। इसलिए स्वामिसेवक-भाव ही होना उचित है और स्वामिसेवक-भाव भी जब अनादि माना जाय तभी तो ईश्वर में ईश्वरत्व सिद्ध होगा और यदि ईश्वर तथा जगत् अनादि हैं तो ईश्वर में कर्तृत्व कल्पित होगा। यदि ईश्वर में कर्तृत्व सिद्ध करने के लिए ईश्वर के बाद जगत् माना जाय तो ईश्वर में ईश्वरत्व किसकी अपेक्षा से होगा ?, क्योंकि ईश्वर शब्द सापेक्ष ही है। अगर कोई ईश्वर को रूढ शब्द मानकर जगत् के पूर्वकाल में भी उसकी स्थिति माने तो वर्तमानकाल में भी ईश्वर शब्दका जहाँ कहीं प्रयोग किया जाता है वहाँ रूढही क्यों न माना जाय ?। अर्थात् ईश्वर शब्द का जहाँ जहाँ लोग प्रयोग करते हैं वे सभी वैसेही माननीय पूजनीय क्यों न गिने जायँ ?।

दूसरी यह शङ्का उत्पन्न होती है कि ईश्वर शरीरी है या अशरीरी ? यदि अशरीरी कहा जाय तो उसमें कर्तृत्व का अभाव सुतरां सिद्ध है; क्योंकि जितने कर्ता होते हैं वे सब शरीरी ही देखने में आते हैं। यदि ईश्वर को भी शरीरी ही मानें, तो वह सावयव है या निरवयव ?। निरवयव पक्ष तो शरीरी में कहना ही अनुचित है; क्योंकि ऐसा कहने से उसमें कर्तृत्वाभाव आपसे आप सिद्ध होजाता है। और यदि सावयव पक्षही स्वीकार करिएगा ता ईश्वर भी कार्यकोटिप्रविष्ट हो जायगा। क्योंकि सावयव कार्यही होता है, और जब ईश्वर कार्य हुआ तो उसका भी कोई कर्ता होना ही चाहिये। फिर आगे भी यही युक्ति दिखाई जायगी

तो अनवस्था दोष गले पतित होजायगा। इसपर यदि कोई यह कहे कि पृथ्वी, अङ्कुर आदि का कोई कर्ता प्रत्यक्ष नहीं दीखता इसलिए उसका कर्ता ईश्वर ही मानेंगे। उसके समाधान में यही कहाजाता है कि पृथ्वी, अङ्कुर ईश्वर की अपेक्षा नहीं रखता; केवल नैयायिकलोगों ने ही ईश्वर को 'इच्छामात्र के योग से' जगत् का निमित्तकारण मात्र माना है। किन्तु ईश्वर से इच्छा का कुछ संबन्धही नहीं है, यह पहिले बहुत स्पष्ट रूप से कहा जाचुका है। कदाचित् वादी के संतोष के लिए ईश्वर में इच्छा मान भी ली जाय, तो भी ईश्वरकी इच्छामात्र से पृथ्वी या अङ्कुरादि नहीं हो सकते; क्योंकि साथही साथ मृत्तिका, जल, अग्नि, वायु आदि की भी तो अपेक्षा रहती है। यदि इच्छा-मात्र से ही कार्य की सिद्धि होती हो तो पत्थर में घास क्यों नहीं उगती?। अगर यह कहें कि उसकी वहाँ पर वैसी इच्छा नहीं है तो यहभी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जो ईश्वर को कर्ता मानते हैं वे उसको व्यापक भी तो मानते हैं। तथा उसकी इच्छा, कृति और ज्ञान को भी नित्य माना है। तो अब घास आदि सर्वथा समस्त स्थल पर होना चाहिए, इसमें कुछ बा-धाही नहीं हो सकती। अगर यह कहा जाय कि मृत्तिका जलादि की अपेक्षा ईश्वर को रखनी पडती है; तो तुह्मारे मत में ईश्वर सापेक्षही हो जायगा। कि और जो सापेक्ष होता है वह असमर्थ ही होता है।

दूसरी यह बात है कि जगत् की उत्पत्ति के पहिले ही जीव और कर्म मानने पड़ेंगे। यदि यह कहें कि-

पहिले कर्म नहीं थे, किन्तु ईश्वर ने नए ही रचे हैं; तो यह बात बुद्धिमानलोग कदापि युक्तियुक्त नहीं मानेंगे; क्योंकि जब कर्म नहीं थे तब जीव परमसुखी आनन्दमय निरुपाधिवाले ही होंगे, तो वे जीव सोपाधिक किस कारण से किए गए? । यदि क्रीडामात्र के लिए ऐसा किया, तो क्या अपनी क्रीड़ा के लिए दूसरे का प्राण लेना ईश्वर के लिए उचित है? । और यह भी बात है कि ईश्वर ने ही जब कर्म बनाए तब सबको समान ही होने चाहिए । और कर्म के समान होने पर जगत् की विलक्षणता कुछ भी न रहनी चाहिए । अगर कोई यह कहे कि–पहिले कर्म समान ही थे और जगत् भी एकाकार ही था, किन्तु पीछेसे उसमें फेरफार हुआ है। तो यह भी ठीक नहीं । सामान्य कारीगर की कारीगरी भी एकाकार आद्यन्त देखी जाती है तो भला ईश्वर की कारीगरी विलक्षण स्वभाववाली होजाय, यह क्या कभी संभवित हो सकता है? ।

इत्यादि अनेक दूषण संमतितर्क, स्याद्वादरत्नाकर, अनेकान्तजयपताका, रत्नाकरावतारिका, स्याद्वादमञ्जरी आदि अनेक ग्रन्थों में दिखलाए हैं । इसीलिए अर्हन् जगत् का कर्ता नहीं माना गया है ।

अर्हन् देव अपने केवलज्ञानद्वारा पदार्थों को जानकरके फिर सबको बता देते हैं । जैनशास्त्र में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति, जीव और कर्मादि पदार्थरूपी जगत्–द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य मानागया है । जिसका खुलासा स्याद्वाद प्रकरणमें आगे किया जायगा ।

अर्हन् देव के हजारों नाम हैं, जिनमें शङ्कर, शिव, महादेव, विश्वनाथ, हरि, ब्रह्मा, क्षीणाष्टकर्मा, परमेष्ठी, स्वयंभू, जिन, पारगत, त्रिकालवित्, अधीश्वर, शम्भू, भगवान्, जगत्प्रभु, तीर्थङ्कर, तीर्थंकर, जिनेश्वर, स्याद्-वादी, अभयद, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली, पुरुषोत्तम, वीतराग आदि नाम गुणनिष्पन्न हैं। इनके अर्थांश में किसीको भी विवाद नहीं है, क्योंकि स्वाभाविक वस्तु में भेद पड़ताही नहीं; और विना भेदक के भेद किसतरह होसकता है? देखिये, एकही जाति के पक्षी या एकही जाति के पशु की बोली किसी भी देश में भिन्न नहीं होती; क्योंकि उसका कोई भेदक नहीं है। अथवा मुह पर पाँचों अङ्गुली लगाने से खाने की, और पेट पर हाथ लगाने से क्षुधा की, तथा नाकपर एक अङ्गुली देने से चुपकराने की चेष्टा मालूम होती है और उस संकेत का सब देश में समानही अर्थ होता है, कुछ फेरफार विशेष नहीं मालूम होता; किन्तु मनुष्य की भाषा में जो फेरफार है उसके भेदक मनुष्य ही प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। संस्कृत, प्राकृत तो अनादि भाषा हैं, यद्यपि उसमेंभी समय समय पर न्यूनाधिकभाव होता रहता है; किन्तु मूलभाषा यथावस्थितही रहती है। और जो दर्शनों की भिन्नता दिखाई पडती है, वह भी भिन्न २ सर्वज्ञ मानने से ही है। अगर सर्वज्ञ की सिद्धि एकही तरह की मानी जाय, तो फिर कुछभी भिन्नता न रहेगी; लेकिन ऐसा न कभी हुआ और न होगा। हाँ! इतना अवश्य कह सकते हैं कि दर्शन भिन्न २ भलेही रहें, किन्तु आपस में वैर विरोध न करके जिस वस्तु में समानता

यानी मेल है उसमें यदि मिलकर काम किया जाय और जिसमें भिन्नता है उसका बारीक दृष्टि से विचार किया जाय तो विशेष लाभ होने का संभव है।

अर्हन् देव का विशेष स्वरूप* नीचे नोट में दिया गया है पाठकलोग उसे देखकरके सन्तुष्ट हों।

सर्वज्ञ और वीतराग होने से अर्हन् देव में मिथ्या-भाषण करने का संभव ही नहीं है; क्योंकि भय, असर्व-

---

* सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥ ४ ॥
(योगशास्त्र द्वितीयप्रकाश)

अकार आदिधर्मस्य आदिमोक्षप्रदेशकः।
स्वरूपे परमं ज्ञानमकारस्तेन उच्यते ॥ ४० ॥
रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा।
दृष्टं लोकमलोकं वा रकारस्तेन उच्यते ॥ ४१ ॥
हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषहाः।
हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन उच्यते ॥ ४२ ॥
सन्तोषेणाभिसंपूर्णः प्रातिहार्याष्टकेन च।
ज्ञात्वा पुण्यं च पापं च नकारस्तेन उच्यते ॥४३॥

अथवा-

अकारेण भवेद् विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्यान्ते परमं पदम् ॥ ३९ ॥
(हेमचन्द्राचार्यविरचित महादेवस्तोत्र)

एवंभूताय शान्ताय कृतकृत्याय धीमते।
महादेवाय सततं सम्यग् भक्त्या नमो नमः ॥८॥
(हरिभद्रसूरि)

ज्ञता और सराग के कारण से ही मिथ्याभाषण होता है। इसीलिए अर्हन् देव में उनबातों का अभाव होने से उनका उपदेश सफल और सतत्त्व है, यह धर्माधिकार में स्पष्ट किया जायगा। यहां पर यह शङ्का होने का संभव है कि अर्हन् देव सर्वज्ञ हैं इसमें क्या प्रमाण है?। इस-पर अन्य प्रमाण देने के पहिले हम यही प्रमाण देते हैं कि उनके कहे हुए परोक्ष पदार्थ के जानने के लिये यद्यपि पूर्व समय में सूक्ष्मदर्शकादि यन्त्रों का आविर्भाव नहीं था; किन्तु आजकल पदार्थविज्ञानवादी लोग जो नए नए आविर्भूत यन्त्रों के द्वारा-जल, वनस्पति, पृथ्वी, फलादि में जीव प्रत्यक्ष कर रहे हैं; और बहुत लोगों ने परलोक, जन्म, मरण, जीवत्व विभागादि जो अब सिद्ध किया है, वह हमारे अर्हन् देव ने केवल ज्ञान के बल से पहिले ही कह दिया था। यदि कोई यह शङ्का करे कि-उनका सर्वथा वीतराग होना कथन मात्र ही है, क्योंकि वास्तविक में कैसे घट सकता है?। इसका उत्तर यही है कि जैसे अपने लोगों में राग द्वेष का तारतम्य* (कमीबेशी) दिखाई देता है वैसे ही किसी व्यक्ति विशेष में रागद्वेष का सर्वथा अभाव होना भी संभव है; इस तरह सर्वथा वीतराग मानने में कुछ भी बाधा नहीं दिखाई देती। जिस पदार्थ का एक देश

---

* श्रीहरिभद्रसूरिकृत अष्टक की टीका में श्रीजिनेश्वरसूरि ने लिखा है कि—

> दृष्टो रागाद्यसद्भावः क्वचिदर्थे यथाऽऽत्मनः।
> तथा सर्वत्र कस्यापि तद्भावे नास्ति बाधकम् ॥१॥

नाश होता है वह सर्वथा विनाशी होता है। जैसे सूर्य की किरणों को ढांकनेवाली मेघघटा आदि का किसी अंश में क्षय दिखाई देता है इस लिए उसका सर्वथा क्षय भी समझा जाता है, वैसे ही रागादि के विषय में भी समझना चाहिये।

अब यहां पर एक बड़ी भारी यह शङ्का उत्थित होती है कि जब अर्हन् देव सिद्धपदवी को प्राप्त होगये तब उनके वीतराग होने से उनकी स्तुति (सेवा) या निन्दा (अनादर) करने से क्या फल है? क्योंकि स्तुति करने से न तो वे तुष्ट ही होंगे और न निन्दा करने से रुष्ट होंगे। इसका यह उत्तर है कि आत्मा को सुख दुःख देनेवाला कोई नहीं है, अगर कोई है तो केवल अपना कर्म ही है और कर्मबन्धन होने का कारण शुभाशुभ अन्तःकरण ही है। लोक में भी उक्ति है कि "प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः"। और समस्त दर्शनकारों ने भी कर्म की सत्ता शब्दान्तर से स्वीकार की है एवं फल भी कर्मानुसार ही मानकर अपने २ सिद्धान्त का समर्थन करसके× हैं; केवल कर्मों के जड़ होने से उनका प्रेरक ईश्वर या कोई दूसरा कारण माना है। किन्तु जैन लोग स्वात्मा से भिन्न कोई कारण नहीं मानते। यद्यपि कर्म जड़ है, तथापि उसकी अनन्त प्रकार की शक्तियां हैं। अतएव शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, अनन्तशक्ति के मालिक आत्मा को अज्ञानी बनाकर अपने आधीन-

---

× कर्मणो हि प्रधानत्वं किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः?।
वसिष्ठदत्तलग्नोऽपि रामः प्रव्रजितो वने ॥ १ ॥

शुभाशुभगति में, लोह को चुम्बक की तरह खीचने की शक्ति रखता है; और उसमें दूसरे प्रेरक की वह अपेक्षा नहीं करता। यदि कोई यह कहे कि-चेतन का उपकार या अपकार जड़ कैसे कर सकता है ?; तो इसका उत्तर यह है कि जैसे सरस्वतीचूर्ण और मदिरादि यद्यपि जड़ हैं तो भी आत्मा के उपकारक और अनुपकारक प्रत्यक्ष सिद्ध हैं; उसी तरह कर्म जड़ होने पर भी आत्मा को मोहित करलेता है।

इतनी प्रसङ्ग की बात कह करके अब मैं कर्मबन्ध के कारण के विषय में विशेषरूप से विवेचना करने की इच्छा करता हूँ—

जैसे कोई पुरुष, स्त्रीपर प्रेम करने से अशुभगति का भागी होता है; उसमें स्त्री की कोई शक्ति नहीं है कि वह अशुभगतिका भागी बनावे, परन्तु अशुभ अन्तः-करण होने से ही उसको अशुभगति मिलती है, उसी तरह वीतराग की सेवा-पूजारूप आज्ञा की आराधना करने से शुभभावना होती है और वह शुभभावनाही शुभफल को देती है; क्योंकि लोक में भी देखा जाता है कि-जैसा सङ्ग होता है वैसाही रङ्ग लगता है। और शास्त्रकारोंने भी ध्यान के विषय में लिखा है कि-वीत-राग के ध्यान करने से जीव वीतराग-दशा को प्राप्त करता है, और सरागी का ध्यान करने से जीव सरागी होता है। इसलिए वीतराग की सेवा-पूजारूप आज्ञा की आराधना करनेवाला पुरुष अत्युत्तम फल को प्राप्त होता है और वीतराग पर द्वेष करनेवाला क्लिष्ट कर्मोंका संचय करता है। अब रहा यह कि इस-जन्म-संबन्धी

शुभाशुभ फल कैसे प्राप्त होता है?। वह भी इस तरह हो सकता है कि-वीतराग के भक्त देवतालोक राग-द्वेषवाले होने से पूजकपर प्रसन्न और निन्दकपर अप्रसन्न होते हैं; इसलिये वे देवता वीतराग की पूजा के निमित्त से जो फल देते हैं वह वीतराग से ही प्राप्त होता है, यदि आरोप से ऐसा मान लें तो उसमें कुछ भी हानि नहीं है।

अर्हन्त देव में राग,* द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व, दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, काम, निद्रा और अविरतिरूप अठारह दूषणों का अभाव है।

यद्यपि राग, द्वेष, मिथ्यात्व और अज्ञान रूप चार ही दूषणों के नाश होने पर प्रायः सभी दूषण नष्ट हो-जाते हैं, किन्तु बालकों को सरल रूप से ईश्वरसंबन्धी ज्ञान कराने के लिए विशेष विस्तार किया गया है। और कार्यरूप दानान्तरायादि चौदह दूषणों के दृष्टिगोचर होने से रागद्वेषादि चार कारणरूप दोषों का अनुमान किया जा सकता है; क्योंकि कार्य से ही कारणका अनुमान किया जाता है। जैसे कोठरी के भीतर बैठा हुआ पुरुष वृष्टि के देखने से आकाशस्थ मेघ का अनुमान कर लेता है।

---

* अन्तराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥७२॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥७३॥
(हैमकोश, देवाधिदेवकाण्ड, पृ० २३)

राग द्वेषादि चार दोष जिसमें दिखाई पड़ते हैं वह किसी प्रकार सर्वज्ञ, वीतराग और सर्वदर्शी नहीं माना जा सकता। अतएव वीतराग कहने से रागद्वेष का अभाव, और सर्वज्ञ पद से अज्ञान का अभाव, तथा सर्वदर्शी शब्द से मिथ्यात्व दोष का अभाव मालूम किया जाता है; क्योंकि इस तरह हुए विना वे विशेषण अर्हन् देव में सार्थक नहीं हो सकते। जहां रागद्वेषादि चारों दोष नहीं हैं वहां अन्तराय कर्म की स्थिति नहीं हो सकती है, फिर अन्तराय कर्म के अभाव होने से दान-शक्ति, लाभशक्ति, वीर्यशक्ति, भोगशक्ति और उपभोग-शक्ति रूप गुणगण की प्राप्ति होती है। अर्थात् दानादि शक्तियां संपूर्णरूप से सर्वज्ञ में प्रकट होती हैं; किन्तु वे उनको उपयोग में नहीं लाते हैं; उसका कारण यह है कि उनको कुछ कर्तव्य बाकी नहीं रह जाता कि जिसके लिए वे उन्हें काम में लावें।

और हास्यरूप दूषण भी भगवान् में नहीं होसकता; क्योंकि अपूर्व कुतूहल से ही हास्य उत्पन्न होता है; लेकिन सर्वज्ञ के ज्ञान में समस्त वस्तु के प्रत्यक्षगोचर होने से कुतूहल उत्पन्न होने का संभव ही नहीं है।

इष्टपदार्थ के ऊपर प्रेम होनाही रति कहलाती है, तब जहाँ राग का अभाव है वहाँ प्रेम (रति) का अभावही है। इसी रीति से अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति और इष्ट पदार्थ के अलाभही को अरति कहते हैं; परन्तु जब सर्वज्ञ में रागद्वेषका ही अभाव है तब इष्ट अनिष्ट की बातही क्या है ?। इसी तरह समझने की बात है कि विना अज्ञान के भय कदापि उत्पन्न नहीं होता,

किन्तु जहाँ अज्ञान का ही अभाव है वहां पर भय की सत्ता किस तरह हो सकती है ?। एवं अनिष्ट पदार्थ पर घृणा करनाही जुगुप्सा है और वह जगत् पर सम-भाव रखनेवाले अर्हन्त देव में कदापि होही नहीं सकती। इसीतरह इष्ट वस्तु के वियोग में चित्त की प्रतिकूलता को ही शोक कहते हैं और भगवान् में इष्टनिष्ट ही का जब अभाव है तब शोक का समावेश किस रीति से हो सकता है ?। इसमें एक कारण और भी है कि-जो अर्हन् देव स्वयं दूसरेका शोक दूर करने में समर्थ हैं उन्हें शोक कैसे हो सकता है ?। और काम भी अज्ञानजन्य चेष्टारूप ही है; किन्तु जहां अज्ञान का स्वप्न में भी संभव नहीं है वहां काम किस तरह अपना पद रख सकता है ?। उसी तरह दर्शनावरणीय कर्म के भेदरूप होने से निद्रा संसारी को ही होती है किन्तु दर्शनावरणीयादि चार घातिकर्म* को विना क्षय किये सर्वज्ञ ही नहीं होता है; तो दर्शनावरणीयकर्म के नाश में निद्रा भी स्वतः नष्ट होजाती है। जैसे ग्राम के अभाव में ग्राम की सीमा का अभाव स्वतः सिद्ध है। दूसरी यह भी बात है कि सामान्य देव भी जब अस्वप्न देव कहे जाते हैं तब सर्वज्ञ देव को निद्रारहित मानने में क्या बाध है ?। इसीतरह सर्व पदार्थ का भोगाभिलाषरूप ही अविरति है, किन्तु रागद्वेष का ही जहाँ अभाव है वहां भोगाभि-लाष भी सुतरां स्थिर नहीं होसकता।

---

* ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय रूप से घातिकर्म चार प्रकार के हैं।

इस रीति से सर्वज्ञ भगवान् में अठारह दूषणों का अभाव युक्तिसिद्ध कहा गया है। और इसी तरह अष्टकर्मोंका अभाव जब उनमें होता है तभी वे अन्तिम शरीर का त्याग करके मुक्ति को प्राप्त होते हैं और तभी सिद्ध गिने जाते हैं।

देहयुक्तदशा में तीर्थंकर- अर्हन् देव कहे जाते हैं और देहमुक्तदशा में सिद्ध गिने जाते हैं। इस समय चौवीसवें तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी का शासन पालित होता है, क्योंकि उनके उपदेशानुसारही वीरप्रभु के अनुयायी लोग चलते हैं। अब आगे भी तीर्थंकर वही हो सकता है जो तीर्थंकर होने के योग्य तीर्थंकरनामकर्म को अर्जित करता है।

कोई भी जीव क्यों न हो यदि *अरिहन्तादि वीस पद में से एक, दो, या समस्त की आराधना करके पुण्योपार्जन करे, तो वह तीर्थंकरनाम कर्म बांधकर तीर्थंकर हो सकता है। और जो तीर्थंकरनाम रूप शुभ कर्म को भोगता है उसका फिर संसार में जन्म नहीं होता। अनेक तीर्थंकर की अपेक्षा से ईश्वर अनादि है और

---

* अरिहन्तसिद्धपवयणगुरुथेरवहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया य एसिं अभिक्खनाणोवओगे अ॥ ७॥
दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ ८॥
अपुव्वनाणगहणे सुअभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ९॥
(आवश्यकनिर्युक्ति.)

यदि एकही तीर्थंकर की अपेक्षा ली जाय तो ईश्वर सादि है। समस्त तीर्थंकरों का उपदेश समानही होता है इसलिए किसी के शासन में कुछ भी भेद नहीं रहता। देहावस्था में जो वे जगत् पर उपकार करते हैं उसको लेकरके उनकी आज्ञा की आराधना-मन, वचन, काया से हम लोग अपना कल्याण समझकर करते हैं और उनकी आज्ञा के विना समस्त क्रिया को भी व्यर्थ ही समझते हैं। जिस तरह एक अङ्क के विना समस्त विन्दु (शून्य) व्यर्थ रहता है उसी तरह आज्ञा के विना धर्मकृत्य से यथोक्त फल नहीं मिलता; और उनकी आज्ञा का स्वरूप धर्माधिकार में आगे चल करके दिखलाया जायगा।

अब तीर्थङ्कर और सामान्य केवली के मध्य में जो अन्तर है उसके समझाने के लिए प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि तीर्थंकर और सामान्य केवली में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्यादि में तो कुछ भेद नहीं है किन्तु तीर्थंकर वे ही कहे जाते हैं कि जिन्होंने पूर्वोक्त वीस स्थानों की आराधना करके पुण्यविशेष को अर्जित किया है, जिससे ३४ अतिशय और ३५ वाणी के गुण उनमें होते हैं; और वह वाणी श्रद्धावन्त जीवों के पापकर्म के नाश करने में खड्गरूप है। तत्त्व का प्रकाश केवल ज्ञान के बाद तीर्थङ्कर करते हैं इसलिये उनके आप्तत्व में कोई भी विरोध नहीं आता। यद्यपि जन्म होने के समय समस्त अर्हन् देवों को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानरूपी तीन ज्ञान होते हैं और इन ज्ञानों से कितने ही पदार्थों को वे जानते हैं, किन्तु समय का,

तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतमादि भावों का केवलज्ञान के विना प्रत्यक्ष नहीं होता है; इसीलिये आत्मा की वास्तविक ऋद्धि केवलज्ञान और केवलदर्शन के विना नहीं होती है। उस ऋद्धि को प्रकट करने के लिये अर्हन् देव समभावपूर्वक सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और तपरूप समाधि का सेवन करते हैं; तथा घातिकर्मों के नाश करने के लिये निर्जल उपवासादि तथा अनेक प्रकार के उपसर्ग, परीषहों को सहन करते हैं। इस विषय में जिनको सविस्तृत वृत्तान्त देखने की अभिलाषा हो, वे हेमचन्द्राचार्यकृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र को आद्यन्त देखलें।

अब गुरुतत्त्व के विवेचन करने की भूमिका ग्रहण करता हूँ।

जो भिक्षामात्र से वृत्ति करनेवाले, सामायिक व्रत में हमेशा रहकर अपने और दूसरों के हितार्थ धर्म का उपदेश करते हुए निरन्तर पृथ्वीपर अन्य जीवों के क्लेश को वचा करके विचरते हैं और धीर होकर महाव्रतों को धारण करते हैं वेही पुरुष जैनधर्म में *गुरु कहे

---

* महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥ ८ ॥
(योगशास्त्र द्वितीयप्रकाश)

तथा—

निव्वाणसाहए जोए जम्हा साहन्ति साहुणो।
समा य सव्वभूएसु तम्हा ते भावसाहुणो ॥ २४ ॥
(आवश्यकनिर्युक्ति)

जाते हैं। अथवा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग, (निर्ममत्व) रूप पाँचो महाव्रतों का मन, वचन, काया से स्वयं पालन करने वाला, और दूसरों को कराने वाला, तथा अन्य करानेवाले की स्तुति करनेवालाही गुरु कहा जाता है। यहाँ पर पांच महाव्रतों में जो मुख्य अहिंसा रक्खी गई है उसका यही तात्पर्य है की अहिंसा देवी के मन्दिर की सर्वथा रक्षा करने के लिये ही बाकी चार महाव्रतरूपी दीवारें हैं।

आत्मा के नाश करदेने ही को हिंसा नही कहते बल्कि अन्य को किसी प्रकार से भी दुःख पहुँचाना हिंसा है। यद्यपि आत्मा का द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सर्वदा अक्षय होने से नाश नहीं हो सकता तथापि शरीर से प्राणों के वियोग होने ही से हिंसा मानी जाती है। उन प्राणों + के मूलभूत इन्द्रिय, शरीर, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप से चारभेद हैं। जैसे २ पुण्य बढ़ता जाता है वैसे २ जीवोंकी पदवी उच्च होती जाती है। याने एकेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुरूप चार प्राण होते हैं; और द्वीन्द्रिय जीव के रसनेन्द्रिय, और वचनबल बढ़कर छे प्राण होते हैं; तथा त्रीन्द्रिय जीवों के घ्राणेन्द्रिय अधिक होने से सात प्राण कहे गये हैं। वैसेही चतुरिन्द्रिय जीवों के चक्षुरिन्द्रिय बढ़जाने से आठ प्राण माने जाते हैं।

+ सूत्रकृताङ्ग की टीका में लिखा है कि—

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा॥१॥

पञ्चेन्द्रिय जीव के गर्भज और संमूर्छिम दो मूळ भेद हैं। उनमें जो गर्भाशय (जरायु) से जन्म लेते हैं वे गर्भज कहे जाते हैं, और स्वयं, याने जो विना माता पिता से उत्पन्न होते हैं, वे संमूर्च्छिम जीव कहलाते हैं। जैसे मेंढक, मछली, कछुए आदि माता पिता से, और स्वयं भी उत्पन्न होते हैं। किन्तु स्वयं उत्पन्न होनेवालों के मन नहीं होता; इसलिये उनके नव ही प्राण माने गये हैं; और जो गर्भ से उत्पन्न होते हैं उनके दश प्राण होते हैं।

यहाँ पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि मन के विना उन जीवों की प्रवृत्ति और निवृत्ति कैसे हो सकती है ?। इसका उत्तर यही है कि समस्त जीवों को आहारचेष्टा, भयचेष्टा, मैथुनचेष्टा और परिग्रहचेष्टारूप से चारही चेष्टाएँ (संज्ञा) मानी गई हैं और वे चेष्टाएँ एकेन्द्रिय जीवों को भी होती हैं इसीसे वे आहारादि का ग्रहण करलेते हैं।

प्राण पुद्गलरूप है और उसके नाश करने से हिंसा होती है; क्योंकि उसके नाश में जीव को दुःख उत्पन्न होता है, और अन्य प्राणी को रागद्वेष से दुःख पहुँचाना ही हिंसा है, यह हम पहिले ही कह चुके हैं। इसीसे तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है कि " प्रमादात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा "।

इसी हिंसा को त्याग करने के लिये भव्य जीव गृहादि को छोड़कर साधु होजाते हैं और अहिंसा व्रत की रक्षा करने के लिये कदापि मिथ्या नहीं बोलते; क्योंकि झूठ बोलने से मनुष्य को दुःख उत्पन्न होता

है। दूसरा उनका यह नियम है कि किसी वस्तु को विना पूछे वे ग्रहण नहीं करते; क्योंकि प्राणियों को धन, प्राणतुल्य है और उसका लेना मानों उनके प्राण का ही लेना है। उसी तरह ब्रह्मचर्य का पालन भी अहिंसा के लिये ही करते हैं क्योंकि अर्हन्‌देवने केवलज्ञानद्वारा स्त्री के 'गुह्यस्थान' में द्वीन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीवों तक की उत्पत्ति दिखलाई है। इस बात को वात्स्यायन कामशास्त्रकार और आजकल के डाक्टरों ने भी स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य के न पालने से और भी अनेक दोष उत्पन्न होते हैं-जैसे किसी की स्त्री के साथ व्यभिचार होने से उसके संबन्धियों को जो दुःख पहुँचता है वह भी हिंसाही हुई। किन्तु गृहस्थ लोग विवाहित होकर जो संसार का सेवन करते हैं वे एकांश में ब्रह्मचारी गिने जाते हैं; क्योंकि स्वदारमात्र में संतुष्ट होने से उनका वैसा निन्दनीय कर्म नहीं है; लेकिन फिरभी पूर्वोक्त जीवों की विराधना (हिंसा) तो अवश्य ही होती है। इस लिये ही वे लोग सर्वथा ब्रह्मचर्यपालनेवाले मुनिवरों की अति संमान पूर्वक सेवा-पूजा करते रहते हैं।

उसी रीति से परिग्रह भी पाप का मूल प्रत्यक्ष सिद्धही है, क्योंकि उससे जो हिंसा होती है वह स्पष्ट ही मालूम पड़ती है।

इन पञ्च महाव्रतों के पालन के लियेही साधु लोग गृहस्थों के व्यवहार से विपरीत रहते हैं। और वेष भी गृहस्थों के वेष से भिन्न रखते हैं। इसलिये जैन साधु लोग गाड़ी, इक्का, रेल वगैरह किसी वाहन पर नहीं

सवार होते, और धातु के वर्तन, छाता, जूता वगैरह को भी कदापि ग्रहण नहीं करते। अर्थात् गृहस्थोंके भूषणों को साधु लोग दूषण ही मानते हैं। उसीतरह और भी *दशप्रकार के यतिधर्मों को बड़े यत्न से पालन करते हैं। उन दश धर्मों का समस्त धर्मवेत्ताओं ने अपनी २ बुद्ध्यनुसार आदर किया है। क्योंकि पञ्चमहाव्रतको धारणकरनेवाला साधु यदि धीर होगा तभी अपने नियमों का निर्वाह कर सकेगा, अत एव साधु के लक्षण में धीर होना कहा गया है। इसी तात्पर्य से किसी कवि ने कहा है कि–"धीरस्यापि शिरश्छेदे वीरत्वं नैव मुञ्चति" अर्थात् शिरकटाजाने पर भी धीरपुरुष अपनी वीरता को नहीं छोड़ता; इसलिये साधु को धीर होना चाहिये; क्योंकि धीर पुरुष ही धर्म और कर्म दोनों में विजय लाभ करसकता है। लेकिन खेद की बात है कि आजकल संसार के काम में आलसीही पुरुष प्रायः साधु का वेष लेते हैं, अत एव वे केवल धर्म के कलङ्कभूतही हैं; क्योंकि साधु लोग, जो जगत् के आधारभूत हैं, उनमें कैसी शक्ति और भक्ति होनी चाहिये, यह पाठक स्वयं

---

* प्राहुर्भागवतास्तत्र व्रतोपव्रतपञ्चकम् ।
यमांश्च नियमान् पाशुपता धर्मान् दशाभ्यधुः ॥१॥
अहिंसा सत्यवचनमस्तैन्यं चाप्यकल्पना ।
ब्रह्मचर्यं तथाऽक्रोधो ह्यार्जवं शौचमेव च ॥ २ ॥
सन्तोषो गुरुशुश्रूषा इत्येते दश कीर्तिताः ।
निगद्यन्ते यमाः साङ्ख्यैरपि व्यासानुसारिभिः ॥३॥
अहिंसा सत्यमस्तैन्यं ब्रह्मचर्यं तुरीयकम् ।
पञ्चमो व्यवहारश्चेत्येते पञ्च यमाः स्मृताः ॥ ४ ॥

विचार कर सकते हैं। इसीलिये आजकल साधुका नाम सुनते ही नवयुवक लोग मूह मोड़लेते हैं; तथा कितने ही लोग साधुओं को दुनियां में दारिद्र्य बढ़ानेका कारण समझते हैं। लेकिन महाकवियों ने दुनियां के आधारभूत तीन महा पुरुषों में साधु को गिना है; वल्कि अन्य पुरुषों को अपनी माता के यौवन नाश करने में कुठार ही माना है। क्योंकि किसी कवि ने कहा है कि—

"जननी! जण, तो भक्त जण, कां दाता कां शूर।
नहिं तो रहिजे वाँझणी मत गवावे नूर"॥

देखिये! इन तीनों में भी भक्तपुरुष को ही पहिले स्थान दिया है। इस विषय में शास्त्रकार भी संमत हैं, क्योंकि महावीरदेव, मङ्खलीगोशाल, पुराणकाश्यप, अजितकेशकम्बल, ककुदकात्यायन, संजयवेलाष्ठपुत्र, चिलातीपुत्र, कपिल, बुद्ध, पतञ्जलि और भर्तृहरि वगैरह संसार के त्याग करने से ही महात्मा हुए हैं, इसलिये पहिले त्याग की श्रेष्ठता वतलाई गई है और त्याग भी धीर लोगों का ही अलङ्कार है।

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च पञ्चते नियमाः परिकीर्तिताः॥ ५॥
वौद्धैः कुशलधर्माश्च दशेष्यन्ते यदुच्यते।
हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृतम्॥ ६॥
संभिन्नालापव्यापादमभिध्या दृग्विपर्ययम्।
पापकर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्॥ ७॥
ब्रह्मादिपदवाच्यानि तान्याहुर्वैदिकादयः।
अतः सर्वैकवाक्यत्वाद् धर्मशास्त्रमदोऽर्थकम्॥ ८॥

साधु को भिक्षामात्र से जीवन वतलाने का कारण यह है कि महाव्रत को धारण करनेवाला धीर होने पर भी यदि आहार वनाने का आरम्भ समारम्भवाला होगा तो महाव्रतका पालक और धीर होना व्यर्थ है। क्योंकि आहार की पचन, पाचनरूप क्रिया करनेवाला पुरुष अहिंसा धर्मकी रक्षा नहीं कर सकता, वल्कि वह महा उपाधिवाला गिना जाता है। तात्पर्य यह है कि भिक्षा मात्र से जीवन करना साधु के लिये महा गौरव है। किन्तु संसार में भिक्षावृत्ति को आजकल तीन पुरुष करते हैं-याने एक तो निरुत्साही और लोभी होने से भिक्षा को मांगता है, दूसरा दरिद्र होने से धर्म के नाम से भिक्षा मांगनेवाला है, और तीसरे वे महानुभाव हैं, जो स्वयं पचनरूप पाप को न करके दूसरे को भी अपने लिये करने की आज्ञा नहीं देते; वल्कि आत्म-कल्याण के लिये ही रातदिन शुभ ध्यान से भावितात्मा रहते हैं*। इसीलिये पापभीरु साधु को तो निर्दोष भिक्षा भूषण ही है, लेकिन अपने हाथ से पचन पाचनादि क्रिया करनेवाले, संग्रही पुरुषों को भिक्षा लेने का अधि-कार ही नहीं है। वस्तुतः तो शरीर को धर्म का साधन समझकर भोजन उसको किराये की तरह दिया जाता है, इसलिये उसमें दूसरी कोई अभिलाषा नहीं है; क्योंकि भिक्षा (मधुकरी) से प्राप्त आहार स्वादिष्ठ और यथेच्छ नहीं मिलता, जैसा कि "स्वयं" वनाने या निमन्त्रणमें मिलता है। अत एव केवल किसी तरह उदर को भर-

---

*निर्जितमदमदनानां मनोवाक्कायविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः स्यात् सुविहितानाम्॥१॥

नेवाले ही मुनि वस्तुतः भिक्षा के अधिकारी हैं; बाकी के भिक्षा मांगनेवाले देश को वास्तविक में दरिद्र करनेवाले हैं। इसीलिये आजकल साधुओं पर लोग विशेष आक्षेप करते हैं; किन्तु खेद की बात है कि उनके साथ में शुद्ध-सच्चे साधुओं का भी तिरस्कार होता है।

शास्त्रकारों ने साधु क सामायिकस्थ भी रागद्वेष के अभाव होने से ही कहा है; क्योंकि रागद्वेष के अभाव विना साधु में साधुधर्म ठीक नहीं माना जाता। तथा साधु को धर्मोपदेशक कहने से साधु में गुरुत्व ठीक २ सूचित होता है; क्योंकि धर्मोपदेश के विना पत्र पुष्प की तरह साधु समझा जाता है, जो स्वयं तरने पर भी दूसरे को नहीं तार सकता; किन्तु जो धर्म के उपदेश देने की शक्तिधारण करता है वह तो नौका के समान है, याने स्वयं पार जाता हुआ अन्य को भी लेजाता है। लेकिन कितने ही मुनि का नाम धारण करने पर भी मिथ्या *आडम्बर बढ़ाकर पत्थर की नौका के समान स्वयं डूबते हुए दूसरों को भी डुबाते हैं। इसलिये वैसों का संग कल्याणाभिलाषी जीवों को कदापि नहीं करना चाहिये। सत्यसाधु के लक्षण श्रीभद्रबाहुस्वामी ने जो दिखलाये हैं उनको पाठक लोग नीचे नोट में देखें ×।

---

* ये लुब्धचित्ता विषयादिभोगे वहिर्विरागा हृदि बद्धरागाः।
ते दाम्भिका वेषभृतश्च धूर्ता मनांसि लोकस्य तु रञ्जयन्ति॥
(हृदयप्रदीपषट्त्रिंशिका)

× जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावइ य सममणइ तेन सो अमणो॥१५९॥

यहां तक देव और गुरुरूप-नींव तथा दीवाल की व्याख्या संक्षेप से की गई, अब उन दोनों के बल से स्थित धर्मरूप धरन की भी व्याख्या करने का प्रारम्भ करता हूँ—

" यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः " अथवा— " दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः " किंवा— दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद् धर्म उच्यते " इत्यादि। धर्म का लक्षण सामान्य रीति से तो यही है, किन्तु उसके विशेषस्वरूप की विवेचना आगे की जाती है।

यद्यपि धर्म का न तो कोई रूप है और न कोई रंग है तथापि केवल शुभप्रवृत्ति को द्रव्यधर्म कहते हैं और आत्मशुद्धि को भावधर्म मानते हैं। इन दोनों में द्रव्यधर्म सांसारिक सुख का कारण प्रत्यक्ष सिद्ध है* किन्तु पुण्यरूप होने के कारण, वह भी परम्परा से मोक्ष का भी कारण दिखलाया गया है।

वस्तुगत्या धर्म में भेद प्रभेद नहीं हैं, कित्तु धर्म-साधन के कारण भिन्न भिन्न होने से धर्म के भी भेद

नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो एसो अन्नोवि पज्जाओ ॥ १६० ॥
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो समो उ माणावमाणेसु ॥१६१॥
(दशवैकालिक-निर्युक्ति)

* धनदो धनार्थिनां प्रोक्तः कामिनां सर्वकामदः।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः ॥ २ ॥
(धर्मबिन्दु)

माने गये हैं। जैसे श्रुत (शास्त्र) के आराधन को श्रुतधर्म, और चारित्र आराधन को चारित्रधर्म कहते हैं। लेकिन श्रुतधर्म और चारित्रधर्म के बीच में चारित्रधर्म केवल स्वोपकारी ही है, और श्रुतधर्म स्वपरोपकारी हैं, इसीसे चारित्रधर्म से प्रायः श्रुतधर्म अधिक बलवान् है। तथा गृहस्थावस्था में रहकर धर्म की आराधना करने को गृहस्थधर्म कहते हैं और साधु की अवस्था में रहकर जो धर्म की आराधना की जाती है वह साधुधर्म कहलाता है। तथा त्यागकरनेलायक वस्तु का त्याग करना हेयधर्म और ग्राह्य वस्तुओं के स्वीकार करने को उपादेयधर्म समझना चाहिये। जैसे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्षरूप से नव तत्व जैनशास्त्र में माने हुए हैं; उनमें पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध ये सर्वथा हेय हैं; किन्तु किसीके अभिप्राय से पुण्य भी, परम्परा से मोक्ष का कारण होने से, उपादेय माना जाता है। इसलिये उस पक्ष में तीनही हेय और चार उपादेय हैं।

तथा कितनी ही वस्तुओं के ज्ञानमात्र को ज्ञेयधर्म कहते हैं। जैसे जीव, अजीव ये दो पदार्थ ज्ञेय हैं; क्योंकि उनके ज्ञान विना शुद्धप्रवृत्ति होना ही कठिन हैं। और विना शुद्धप्रवृत्ति के निवृत्तिरूप भावधर्म की प्राप्ति होना भी दुर्लभ है। इसी तरह दान से उत्पन्न हुए पुण्यबन्ध को दानधर्म कहते हैं, जो अभयदान, सुपात्रदान, अनुकम्पादान, उचितदान और कीर्त्तिदानरूप से पांच प्रकार का है। इन पांचों में से प्रथम और द्वितीय दान तो मोक्ष के,

और बाकी तीन दान सांसारिक सुख के कारण हैं। इसीरीति से ब्रह्मचर्यरक्षणरूप शीलधर्म के पालन करने से उभय लोक में अखण्ड कीर्तिलता का विस्तार होता है। एवं स्वर्ग और मोक्ष के प्राप्त्यर्थ तथा कर्मरूप महारोग को नाश करने के लिये ×बारह प्रकार का तपोधर्म परम औषध है।

अनित्यादि +बारह भावनाओं के द्वारा शुद्ध मनोवृत्ति होने को भावधर्म कहते हैं। जैसे राजा भरत ने भावधर्म के बल से (आत्मा के आवरणरूप) ज्ञानावरणीयादि चार कर्मों को क्षय करके केवलज्ञान की

× अनशन (उपवास), ऊनोदरता (आहारादि और क्रोधादि को यथाशक्य न्यूनकरना), वृत्तिसंक्षेप (इच्छानिरोध), रसत्याग (घृतादि विकृतित्याग), कायक्लेश (शिरोलुञ्चन शीतादिसहन), संलीनता (इन्द्रियादिकों को अशुभप्रवृत्ति से हटाना) रूप से बाह्य तप छे प्रकारके हैं। और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (आचार्य संघादि की आहारादि से सेवा), स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग (यथाशक्ति आहार, शरीरादि का त्याग) रूप से आभ्यन्तर भी तप छे प्रकार के हैं।

+ १ अनित्यभावना २ अशरणभावना ३ भवभावना ४ एकत्वभावना ५ अन्यत्वभावना ६ अशौचभावना ७ आस्रवभावना ८ संवरभावना ९ कर्मनिर्जराभावना १० धर्मभावना ११ लोकस्वरूपभावना १२ बोधिबीजभावना रूप से बारह भावनाएँ हैं।

प्राप्ति की थी। इसीलिये सब जीवों को भावधर्म की आराधना विशेषरूप से करना उचित है।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रहरूप पांचों पापों के कारणों को रोकना और हटाना भी पांच प्रकार से धर्म गिने गये हैं।

इस प्रकार धर्म के कारणों को धर्म ही (उपचार से) मानकर धर्म के अनेक भेद माने गये हैं; किन्तु इन धर्मों का ज्ञान, स्याद्वाद के ज्ञानाधीनही है, इसलिये स्याद्वाद याने अनेकान्तवाद का स्वरूप प्रदर्शन कराया जाता है—

एक वस्तु में सापेक्षरीति से नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्वादि अनन्तधर्मों को मानना ही स्याद्वाद का स्वरूप है।

स्याद्वाद एक ऐसी चीज है कि जिसको सभी दर्शनकारों ने किसी न किसी रूप से आश्रयण किया है और जैनदर्शन का तो अनेकान्तवाद दूसरा नाम ही है; क्योंकि जैसे सत्यमार्ग के विना इष्ट स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती, वैसेही स्याद्वाद की कृपाविना पदार्थसार्थ का सच्चा स्वरूपही दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसीसे वाचकमुख्य श्रीउमास्वाति महाराज ने स्याद्वादनरेन्द्र की आज्ञा को अपने अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित करके द्रव्य का लक्षण इस तरह किया है— "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्"। अब यह लक्षण, प्रथम आस्तिक मात्रों के माने हुए आत्मापर ही स्याद्वाद की रीति से इस तरह घटाया जासकता है-याने

आत्मा यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य है, तथापि पर्यायार्थिक नय का आश्रयण करके अनित्य मानना पड़ता है। जैसे संसारस्थ जीव, पुण्य की अधिकता के समय, जब मनुष्य योनि को छोड़कर देवगति को प्राप्त होता है तो उस समय देवगति में उत्पाद और मनुष्यपर्याय का व्यय (नाश) हुआ; किन्तु दोनों गति में चेतनधर्म अनुगत होने से चेतन तो ध्रौव्य (स्थायी) ही रहा। अब यदि एकान्त (केवल) नित्य माना जाय तो उत्पन्न किया हुआ पुण्यपुञ्ज, पुनः जन्ममरणाभाव से व्यर्थ ही हो जायगा, और एकान्त (केवल) अनित्य ही माना जाय तो पाप करनेवाला अन्य होगा और उसका फल भोगनेवाला अन्यही होगा। अत एव आत्मा में कथञ्चित् नित्यत्व और कथञ्चित् अनित्यत्व का स्वीकार अवश्य करना होगा। इसी तरह जड़पदार्थ में भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप से तीनों दशाएँ घटसकती हैं; जैसे मृत्पिण्ड से जिस समय स्थासक, कोश, कुशूल आदि बनकर घट बनता है, उस समय मृत्पिण्ड का नाश और घट का उत्पाद होता है, किन्तु मृद्‌द्रव्य, दोनों में अनुगत होने से ध्रौव्य ही रहता है। लेकिन जैनेतर दर्शनकारों ने आकाश को एकान्त नित्य और दीप को एकान्त अनित्य माना है; परन्तु वस्तुतः उसमें भी पूर्वोक्त लक्षण ठीक ठीक घटता है। क्योंकि घटाकाश की उत्पत्ति के समय पटाकाश का नाश, और घटाकाश का उत्पाद होना माना जाता है, किन्तु दोनों में आकाशत्व अनुगत ध्रौव्यही है। और उसीतरह दीप में पूर्व कलिका नाश,

और उत्तर कलिका का उत्पाद होता है, किन्तु 'यह दीपकलिका वही है' यह ज्ञान तो तेजोद्रव्यरूप पुद्गल ही अनुगत कराते हैं, इसलिये तेजोरूप पुद्गल ध्रौव्य ही है। क्योंकि दीपपर्याय के नाश में पुद्गलत्व का नाश नहीं होता, किन्तु केवल तेजोद्रव्यपर्याय को छोड़कर अन्धकारपर्याय को स्वीकार कर लेता है। और जैन-शास्त्रकारों ने बड़ी युक्तिपूर्वक अन्धकार को भी द्रव्य स्वीकार किया है।

नैयायिकों ने भी अगत्या आकाश में संयोग विभाग मानकर, नित्यत्वानित्यत्व स्पष्ट किया है। क्योंकि ज्ञानादि (गुण) की तरह संयोग विभाग भी नित्य न होने से अनित्य ही हैं। और जिसके गुण अनित्य होते हैं वह पदार्थ भी यदि कथञ्चित् अनित्य माना जाय तो कोई हानि नहीं देख पड़ती।

आजकल स्याद्वाद का सच्चा स्वरूप प्रायः बहुत लोग नहीं जानते हैं इसलिये यदि उसकी कुछ अधिक व्याख्या की जाय तो मेरी समझमें अरुचिकर नहीं गिनी जायगी।

महाशयो! स्याद्वाद से यह तात्पर्य नहीं है कि शीतत्व के समय उष्णत्व भी हो, किन्तु सापेक्षभाव से एक वस्तु में अनन्त धर्मों के समावेश होने का संभव माना गया है। क्योंकि इस स्याद्वाद के रचयिता वे सर्वज्ञ अर्हन् देव थे जिनका स्वरूप संक्षेप रीति से पहिले ही कहा जा चुका है। इसलिये उनको कहे हुए एक भी पदार्थ में विसंवाद होने का कदापि संभव ही नहीं है।

इसी विषय में काशीनिवासी महामहोपाध्याय श्रीराममिश्रशास्त्रीजी ने भी थोड़े ही शब्दों से अपने 'सुजन-संमेलन' नामक व्याख्यान में कहा है कि—

☞ "अनेकान्तवाद तो एक ऐसी चीज है कि उसे सब को मानना होगा, और लोगों ने माना भी है। देखिये, विष्णुपुराण में लिखा है—

नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम ! ।
वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यार्जवाय च ।
कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ? ।

यहाँ पर जो पराशर महर्षि कहते हैं कि वस्तु वस्त्वात्मक नहीं है, इसका अर्थ यही है कि कोई भी वस्तु एकान्ततः एक रूप नहीं है। जो वस्तु एक समय सुख हेतु है वह दूसरे क्षण में दुःख की कारण होजाती है, और जो वस्तु किसी क्षण में दुःख की कारण होती है वह क्षण भर में सुख की कारण हो जाती है। सज्जनों ! आपने जाना होगा कि यहाँ पर स्पष्टही अनेकान्तवाद कहा गया है। सज्जनो ! एक बात पर और भी ध्यान देना। जो-' सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं जगत् ' कहते हैं उनको भी विचारदृष्टि से देखा जाय तो अनेकान्तवाद मानने में उज्र नहीं है; क्योंकि जब वस्तु सत् भी नहीं कही जाती और असत् भी नहीं कही जाती तो कहना होगा कि किसी प्रकार से सत् होकर भी वह किसी प्रकार से असत् है, इस हेतु, न वह सत् कही जा सकती है और न तो असत् कही जा सकती है, तो अब अनेकान्तता मानना सिद्ध होगया।

सज्जनो! नैयायिक तम को तेजोऽभावस्वरूप कहते हैं और मीमांसक एवं वैदान्तिक बड़ी आरभटी से उसका खण्डन करके उसे भावस्वरूप कहते हैं, तो देखने की बात है कि आज तक इसका कोई फैसला नहीं हुआ कि कौन ठीक कहता है, तो अब क्या निर्णय होगा कि कौन बात ठीक है। तब तो दोकी लड़ाई में तीसरे की पौबारा है, याने जैनसिद्धान्त सिद्ध हो गया, क्योंकि वे कहते हैं कि वस्तु अनेकान्त है उसे किसी प्रकार से भावरूप कहते हैं, और किसी रीति पर अभावस्वरूप भी कह सकते हैं। इसी रीति पर कोई आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहते हैं और कोई ज्ञानाधारस्वरूप बोलते हैं तो बस अब कहनाही क्या? अनेकान्तवाद ने पद पाया। इसी रीति पर कोई ज्ञान को द्रव्यस्वरूप मानते हैं और कोई वादी गुणस्वरूप। इसी रीति पर कोई जगत् को भावस्वरूप कहते हैं और कोई शून्यस्वरूप; तब तो अनेकान्तवाद अनायास सिद्ध होगया "☛ ।

महाशयो! स्याद्वाद एक ऐसा अभेद्य किला है जिसका आशय समस्त दर्शनकारों ने लिया है। देखिये! साङ्ख्यवादी ने एक धर्मि में विरुद्ध धर्म स्वरूप, अनेक अवस्थाएँ मानी हैं-जैसे प्रकृति में प्रसाद, सन्तोष, दैन्यादि अनेक विरुद्ध धर्म स्वीकार किये हैं। उसी रीति से नैयायिकों ने भी एक पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व विरुद्ध धर्म स्वीकार किये हैं। और बौद्ध लोगों ने भी मेचक ज्ञान में नील पीतादि चित्र ज्ञान भी माने हैं। तथा मीमांसाकार ने भी प्रमाता, प्रमिति

और प्रमेय का ज्ञान, एक ही माना है। इस तरह तत्त-त्स्थल पर स्याद्वाद सार्वभौम की कृपा से समस्त दर्शनकार अपने २ मन्तव्य की रक्षा कर सकते हैं। इसका दृष्टान्त यह है कि नैयायिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्न, सामान्य और विशेष पदार्थ को माना है, किन्तु जैनशास्त्रकार उन दोनों पदार्थों को स्याद्वाद की आज्ञानुसार वस्तु के धर्म ही मानते हैं। जैसे एक घट की पृथुवुध्नाकार आकृति मालूम होने से तदाकार अन्य घटों का ज्ञान भी (सामान्यरूप से) होजाता है। और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद होने से भेदज्ञान (विशेषज्ञान) भी होता है। क्योंकि एकाकार प्रतीति करानाही सामान्य (जाति) का धर्म है, और भेद का बोधक ही विशेष है। पूर्वोक्त प्रकार से (सामान्यरूप से) एकाकार प्रतीति, और भेद भी होसकता है। इसरीति से सामान्य और विशेष को भिन्न पदार्थ मानना उचित नहीं है। यदि कदाचित् सामान्यविशेषात्मक वस्तुधर्म को ही पदार्थ मानने का साहस करें, तो वस्तु अनन्तधर्मात्मक होने से अनन्त पदार्थ हो जायंगे, किन्तु यह बात नैयायिकों को संमत नहीं है। और वस्तुधर्म भी, एकान्त (केवल) भेद या एकान्त (केवल) अभेद मानने में सिद्ध नहीं होसकते। क्योंकि वस्तु का धर्म विशेषणरूप है और वस्तु विशेष्य है। किन्तु एकान्त भेद पक्ष मानने में विशेषण-विशेष्यभाव सिद्ध होनाही दुर्लभ है यदि होता हो तो करभ और रासभ के विशेषणविशेष्यभाव मानने में क्या हानि है?। इसीतरह एकान्त अभेद पक्ष मानने में भी विशेषणविशेष्यभाव संमत

नहीं है। क्योंकि अभेद पक्ष में कौन धर्मी, और कौन धर्म है, यह विवेचन ही नहीं होसकता। अत एव वस्तु-मात्र को, स्याद्वादनरेन्द्र-मुद्रामुद्रित होने से, किसी प्रकार से भिन्न और किसी प्रकार से अभिन्न मानना ही उचित है[१]।

१-वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्वरूप ही सर्ववादिसंमत है किन्तु वह कथंचित् नित्यानित्य पक्षको स्वीकार किये विना ठीक नहीं घट सकता। क्योंकि एकान्त (केवल) नित्य पक्ष माननेवाले के मत में नित्य का लक्षण 'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूप' है। और एकान्त अनित्य पक्ष के माननेवालों के मत में 'यत् सत् तत् क्षणिकं' यह लक्षण है। तब स्याद्वाद की विशालदृष्टिद्वारा साक्षेप रीति से दोनों पक्ष ठीक देखे जाते हैं। क्योंकि जैनदर्शनकार नित्य का लक्षण 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' कहते हैं; और यही लक्षण ठीक २ घट सकता है। जैसे आत्मा नित्य है, क्योंकि किसीके मत में आत्मा अनित्य नहीं माना हुआ है और यदि कोई एकान्त अनित्य माने, तो वह नास्तिक कहा जायगा। और आत्मा जब नित्य हुआ तब एकान्त नित्य पदार्थ माननेवाले के मत में उसकी उत्पत्ति और विनाश (एकान्तनित्यलक्षणानुसार) नहीं बन सकता। तो फिर जगत् विचित्र स्वभाववाला भी कैसे होसकेगा?। और एकान्त अनित्य माननेवाले के मत में भी क्षणिक एक वस्तु में-उत्पाद और विनाश, नहीं सिद्ध होसकते। अर्थात् जब वस्तु ही क्षणिक है, तो उसका जिस समय

उत्पाद होता है, उसी समय विनाश नहीं हो सकता। यदि स्वीकार भी किया जाय तो वस्तुतः क्रम से होने वाले उत्पाद और विनाश का ज्ञान प्रमाता को स्पष्ट नहीं होसकेगा। अत एव 'तद्भावाव्ययम्' यही नित्यं का लक्षण ठीक है। अर्थात् जब आत्मा मनुष्य के पर्याय को छोड़कर देवतापर्याय को प्राप्त होता है तब उसका किसी अंश में उत्पाद और किसी अंश में विनाश होता है, किन्तु 'चेतन द्रव्यरूप' तद्भाव का कदापि नाश नहीं होता। और मूलस्वभाव का नाश न होना ही नित्यता है। जैसे मृत्तिका के पर्याय हजारों रहें और उनमें उत्पाद विनाश भी होता रहे, किन्तु मृत्तिका का अस्तित्व तो कदापि नष्ट नहीं होसकता। वैसेही वस्तु का 'अर्थक्रियाकारित्व' लक्षण भी एकान्त नित्य पक्ष में नहीं घटता है। क्योंकि नित्यपदार्थ से उत्पन्न हुवा अर्थक्रियाकारित्व भी नित्य हो, यह अनुभव विरुद्ध है। इसी रीति से अनित्यपदार्थ से उत्पन्न हुआ कार्य अनित्य ही हो, यह भी ठीक नहीं हो सकता है; क्योंकि तन्तु (डोरों) से उत्पन्न हुए पटात्मक कार्य से शीतनिवारणरूप अर्थक्रिया को, हमलोग न तो यावत्काल (सर्वदा) और न केवल क्षणमात्र ही अनुभव करते हैं किन्तु चिर (बहुत) काल तक ही अनुभव करते हैं; अत एव कथञ्चिद् नित्य और कथञ्चित् अनित्य पक्ष ही सर्वक्रिया का साधक है। इस विषय में श्रीहरिभद्रसूरिकृत अनेकान्तजयपताका को आद्यन्त देखने की सूचना मैं आप लोगों को देता हूं। उसमें पहिले स्याद्वाद का

स्याद्वाद का स्वरूप प्रत्यक्ष करके उसको संसार में प्रकट करदिया, उन्हीं ने परमाणुवाद को भी केवलज्ञान से प्रत्यक्ष करके सिद्धान्तों में स्पष्टरूप से दिखलाया है। इसलिये जैनशास्त्रानुसार परमाणु की व्याख्या को जो तत्त्ववेत्ता (समभाव दृष्टि से) देखेगा, वह डॉक्टर याकोवी महाशय के ×वचनों को जरूर स्वीकार करेगा।

पूर्वोक्त प्रत्यक्ष को जैन शास्त्रकारोंने इस तरह माना है कि जो इन्द्रिय और मन आदि की सहायता के विनाही साक्षात् आत्मा को ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष है। किन्तु इतर दर्शनकारों के मत से घट पटादि का जो इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष होता है, उसको तो जैनशास्त्रकार परोक्ष मानते हैं। अथवा वालजीवों को समझाने के लिये उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

इतना धर्म, और उसके कारण (स्याद्वाद) का स्वरूप दिखलाकर अव अपनी पूर्वोक्त प्रतिज्ञानुसार थोड़ासा अर्हन् देव का उपदेश (देशना) भी दिखलाना चाहता हूँ—

अर्हन् देव ने भव्य जीवों के लिये यह उपदेश दिया है कि जो पुरुष इस असार संसार को सार मानता

खण्डन करके पीछे निर्भय रीति से विशाल दृष्टिपूर्वक उसका प्रतिपादन (मण्डन) किया हुआ है। इसलिये संपूर्ण ही देखना उचित है।

× Encyclopaedia of Religion and Ethics, vol, ii; pp. 199 sq.

है वह मूर्ख काच को ही हीरा समझता है। और देव, गुरु तथा धर्म का सम्यग् ज्ञान न करने से अपने जन्म को भी व्यर्थ खो देता है। क्योंकि जैसे क्रोधकरनेवाला पुरुष क्रोधी गिना जाता है, वैसे ही लोभी, मानी, मायावी भी अपने दुर्गुण के ही कारण से कलङ्कित होता है। इसलिये सभी जीवों को अठारह पापस्थान, चार विकथा और पांच प्रमाद तथा पञ्चेन्द्रिय के २३ विषय, एवं ५ मिथ्यात्व को त्याग करना परमावश्यक है। अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरकगति रूप से संसार के चार भेदोंमेंसे देव और मनुष्य गतिके प्राप्त करने के लिये-शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, दया, भक्ति, दान, शील, सत्य, सन्तोष, क्षमा, आर्जव, मार्दव, निर्लोभता, निर्मायिता, परोपकारता, इन्द्रियनिग्रहता, न्यायप्रवणता, गुणानुरागता, पापभीरुता, सरलता, सनाथता, लज्जालुता, विनयता, विवेकता, सौम्यता और तीर्थसेवादि सामान्य गुणगणों की आवश्यकता है। इसलिये भव्यजीवों को इन सद्गुणों की आराधना अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि शठता, निर्विवेकता, अनाथता, स्वच्छन्दता, अल्पज्ञता, उन्मत्तता, वाचालता, संग्रहशीलता, दुष्टाचारता, व्यभिचारता, निर्दयता, मृषावादिता, मांसभोजिता, सदा वैरभावता, अन्तःकरण की मलिनता, क्रोध, मान, माया और लोभादि दुर्गुणविशेष के होने से तो नरक और तिर्यञ्च गति का ही जीव भागी होता है। इसका कारण यह है कि सद्गुणों से पुण्यबन्ध होता है और दुर्गुणों से पापबन्ध होता है। इसलिये देवगति मनुष्यगतिरूप संसार का कारण पुण्य, और तिर्यञ्चगति

नरकगतिरूप संसार का कारण पाप है। क्योंकि पुण्य और पापका कारण कर्म है और कर्म का कारण पुण्य पाप है। इसलिये कर्म और पुण्य का अन्योन्य कार्य-कारणभाव माना जाता है। उसी तरह संसार और कर्म का अन्वयव्यतिरेक है, अर्थात् कर्म की सत्ता में संसार की सत्ता, और कर्म के अभाव में संसार का अभाव है। अथवा कर्म और संसार का भी अन्योन्य कार्यकारणभाव सिद्ध हो शकता है। अर्थात् कर्म से संसार, और संसार से कर्म का उद्भव है। अत एव कर्मनाश करने के लिये जिन भावनाओं का स्वरूप मैं आगे दिखलाता हूँ, उन-पर जीवों को विशेष ध्यान देना चाहिये। अर्थात् कोई जीव पाप न करे, या कोई दुःखी न हो, और सब का मोक्ष हो, इस मैत्री भावना पर ध्यान देते हुए, गुणीजनों को देखकर आनन्दित होना, और उनके गुणों पर राग-दृष्टि करना, इस प्रमोदभावना से प्रमोदपूर्ण रहना चाहिये। किन्तु दीन, आर्त, भयभीत और जीवित की याचनाकरनेवाले पर तो यथाशक्ति (उपकाररूप) कारुण्यभावना से सदाही भावितात्मा रहे। और उसीरीति से हिंसादि क्रूर कर्म, देवगुरु की निन्दा, एवं व्यर्थ आत्मप्रशंसा करनेवाले पुरुष में (उपेक्षाबुद्धिरूप) माध्यस्थभावना रखना उचित है। जो पुरुष इन पूर्वोक्त चार भावनाओं को अपने हृदयादर्श में प्रतिबिम्बित हमेशा रक्खेगा, वही वीर प्रभु की आज्ञा को वस्तुतः पालन कर सकेगा।

समय के अल्प होने से जो अनित्यादि बारह भाव-नाओं का स्वरूप माना गया है वह इस समय नहीं

कहा जा सकता, इसलिये उनको योगशास्त्रादि से समझ लेना चाहिये। अब अर्हन् देव की आज्ञानुसार पूर्वोक्त धर्माराधना के प्रकार को ही थोडासा दिखलाकर मैं अपने इस व्याख्यान को समाप्त करना चाहता हुँ।

पहिले गृहस्थों को न्यायसंपन्न विभवादि ३५ गुणों की प्राप्ति करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये; तब उसके बाद सम्यक्त्वमूलक द्वादश व्रत का अधिकारी होना संभव है! अत एव द्वादशव्रत पालन करने के लिये श्रावक लोग हमेशा षट् कर्म करते रहेते हैं। लेकिन श्रावकों को हमेशा यही विचार करना चाहिये कि कब इस असार संसार का त्याग करके मुनियोंके वेष से आत्मकल्याण को प्राप्त करूँगा; अथवा कब अनित्य गृहपाश को छोड़कर वास्तविक सुख को प्राप्त होऊँगा।

पूर्वोक्त भावनाएँ जिसके अन्तःकरण में दृढ़ हो जाती है, वह, गार्हस्थ्य को छोड़, साधु होकर स्वपर जीवों का कल्याण कारक होता है। तदनन्तर वह परम्परा से अनन्तसुखमय, निराबाध, अनुपमेय, अक्षय, मुक्ति स्थान को भी प्राप्त करता है।

जैनशास्त्रकारों ने लोक के अग्र भाग में जो मुक्ति का स्थान माना है वह उनके गंभीर आशय को सूचित करता है। क्योंकि जब कर्म के बोझे से जीव मुक्त होता है तभी ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है। संसार में भी ऐसा देखा जाता है कि जो हलका पदार्थ रहता है वह ऊपर को ही उठता है। यहाँ पर यह शङ्का उठती है कि उस ऊर्ध्वगतिवाले जीव की बराबर ऊर्ध्वगति होती ही रहनी

चाहिये, किन्तु उसकी गति में कदापि बाधा नहीं होनी चाहिये। तब तो मुक्तावस्था के जीव में अनवस्थितिरूप दोष बना ही रहेगा। इसका उत्तर यह है कि जैनशास्त्र के माने हुए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय पदार्थ की जहांतक सत्ता है, वहां ही तक तो लोक है और जहां उनकी सत्ता नहीं है वहां अलोक माना गया है। इसलिये धर्मास्तिकाय तो जीव और पुद्गलों की गति में, और अधर्मास्तिकाय उनकी स्थिति में सहायक है। किन्तु लोक के आगे उन दोनों के अभाव होने से वहां ही तक जीव जासकता है; क्योंकि फिर आगे जाने का कोई कारण ही नहीं है।

मनुष्यक्षेत्र पैंतालीस लाख योजन प्रमाणही है; और इसी मनुष्यक्षेत्र से कर्ममुक्त होकर जीव सिद्ध होसकता है; अत एव सिद्धक्षेत्र भी उतने ही प्रमाणवाला माना गया है। वहाँ पर कर्ममुक्त जीव की समश्रेणिपूर्वक (सीधी) ही गति होती है, इसलिये जो जीव जिस स्थान से सिद्ध होता है वह उसी स्थान के ऊपर लोकाग्र में स्थित रहता है। यहां पर ऐसी शंका उत्पन्न होने का अवकाश नहीं है कि एक ही स्थान से भिन्न भिन्न काल में मुक्त होनेवाले अनन्त जीव लोकाग्र के एक ही स्थान में कैसे रह सकते हैं?; क्योंकि मुक्त जीवों के अरूपी होने से उसमें कुछ बाध ही नहीं है। इसीलिये वहाँ पर द्रव्यप्राण को छोड़कर [केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप] भावप्राण के साथ जीव जाता है, और उस समय उसमें कर्म के अभाव होने से विग्रह [वक्र] गति होने की भी संभावना ही नहीं है।

षड्द्रव्य, नवतत्त्व, सात नय, दो प्रमाण, द्वादश श्रावक के व्रत; काल, स्वभाव, नियति, पुरुषाकार और कर्म, इन पांच कारणों का, तथा वर्णव्यवस्था वगैरह का संक्षिप्त स्वरूप जैनतत्त्वदिग्दर्शन नामक व्याख्यान में कहा जा चुका है, इसलिये उसको वारंवार कहना मैं उचित नहीं समझता हूँ।

यद्यपि जैनों में अनेक भेद प्रभेद हैं किन्तु पूर्वोक्त मुक्त्यादि पदार्थ को तो सभी इसी तरह स्वीकार करते हैं; लेकिन जैनेतर दर्शनकारों ने मुक्ति के स्वरूप में जो अपने २ मन के भेद माने हैं, वे भेद भी यदि यहां पर दिखलाये जावें तो महीनों में भी इस व्याख्यान के पूरे होने की सम्भावना नहीं है।

अन्त में मैं यही कहता हूँ कि यद्यपि लोगों की भिन्न भिन्न रुचि होने से यह मेरा आज का व्याख्यान सभी को अच्छा ही मालूम हो, ऐसी मैं स्वप्न में भी संभावना नहीं कर सकता; तथापि मध्यस्थदृष्टिरखनेवाले श्रोताओं को तो अवश्य कुछ न कुछ इससे लाभ ही होगा; यह मुझे पूरा विश्वास है।

वस! इतना ही कहकर और न्यूनाधिक होने की क्षमा मांगता हुआ इस व्याख्यान को समाप्त करता हूँ।

यत्र तत्र समये यथा तथा
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवान्
एक एव भगवन्! नमोऽस्तु ते॥ १॥

आदर्श–साधु।

संसारमें साधु नामधारी हजारों ही नहीं वल्के लाखों मनुष्य हैं। परन्तु साधु किसे कहना चाहिये? साधुओंमें कसे गुण होने चाहिये? संसारकी समस्त उपाधियोंसे मुक्त होकर साधुताके स्वीकार करनेसे उनको कैसे कैसे कठिन कर्तव्य पालने पड़ते हैं, इन सभी बातोंका ज्ञान इस पुस्तकसे स्पष्टतया होता ह। भारतवर्षमें ही नहीं; परन्तु पाश्चात्यदेशोंमें भी सुप्रसिद्धि पानेवाले स्वनामधन्य शास्त्रविशारद—जैनाचार्य **श्रीविजयधर्मसूरिजी**के नामसे कौन अज्ञात है? आपहीके जीवनवृत्तान्तसे युक्त यह पुस्तक है। आचार्यश्रीने साधारण स्थितिसे अपने जीवनका प्रारंभ करके क्रमशः कैसे कैसे बड़े महत्त्वके कार्य संसारके रंगमंडपमें कर दिखलाये यैं, उनका इस पुस्तकमें बड़ी योग्यताके साथ वर्णन किया गया है। इसके लेखक मुनिराज **विद्याविजयजी**ने प्रसंग प्रसंग पर एक एक बातका ऐसा अच्छा स्पष्टीकरण और भिन्न भिन्न विषयोंपर ऐसी उत्तम आलोचनाएं की हैं, जो प्रत्येक मनुष्यके पढ़ने योग्य हैं। एक और बातकी भी इसमें विशेषता है–आचार्य श्रीविजयधर्मसूरिजीके उपदेशसे बड़े बड़े महत्त्वके कार्य करनेवाले महाराजा काशीनरेश, महाराणाजी साहेब श्रीउदयपुर, सर. इ० जी. कालिन्न-एजंट टू धी गवर्नर जनरल वगैरहके एवं आपसे घनिष्ठ संबन्ध रखनेवाले यूरोपीयन विद्वानोंके फोटू भी दिये गये हैं। कपड़े की पक्की जिल्द होनेपर भी दाम सिर्फ–१–४–०

पता—

श्रीयशोविजयजैनग्रंथमाला.

हेरीसरोड, भावनगर।

लेखकके अन्यान्य ग्रंथ

१-जैनतत्त्वदिग्दर्शन (हिंदी)
२-जैनशिक्षादिग्दर्शन „ व गुजराती
३-पुषार्थदिग्दर्शन „
४-अहिंसादिग्दर्शन „
५-इन्द्रियपराजयदिग्दर्शन „ गुजराती व मराठी
६-धर्मदेशना (गुजराती)
७ देवकुलपाटक „
८-आत्मोन्नतिदिग्दर्शन „
९-ऐतिहासिक राससंग्रह
प्र. भाग „
१०- „ „ द्वि. भाग „
११- „ „ त्रि. भाग „
१२-जैनतत्त्वज्ञानम् (संस्कृत)
१३ देव-द्रव्य संबंधी मारा विचारो (गुजराती)
१४ ब्रह्मचर्यदिग्दर्शन (संस्कृत और मराठी)
१५ गृहस्थधर्म (हिन्दी)

नोट हमारी ग्रन्थमालाके दूसरे दूसरे ग्रंथोंके लिए हमारा बड़ा सूचीपत्र मंगाकर देखिए।

पता—मॅनेजर यशोविजयजैनग्रंथमाला,
हेरिस रोड, भावनगर (काठियावाड)